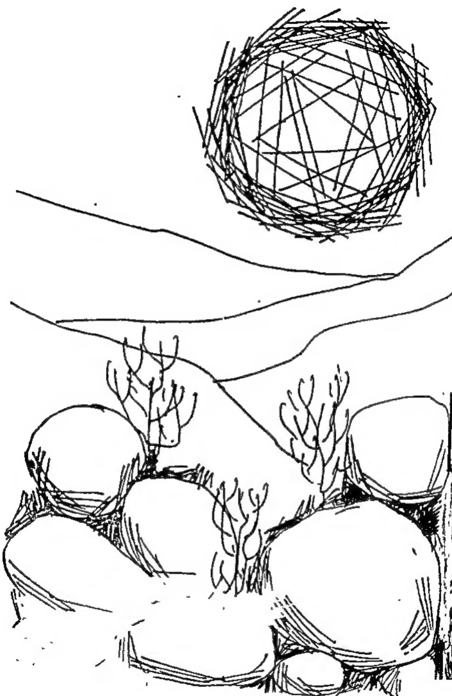
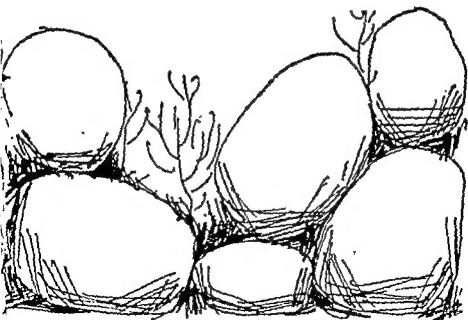


बोले बोल अबोल

केदार नाथ अग्रवाल



प्रकाशक
परिमल प्रकाशन
१७, एम० आई० जी०
बाघम्बरी आवास योजना
अल्लापुर, इलाहाबाद-२११००६

मुद्रक
रिवरडेल प्रिन्टर्स
६, बाई का बाग
इलाहाबाद-२११००३

आवरण एवं रूपाकार
इन्सैट, इलाहाबाद-२११००१

मूल्य
अड़तीस रुपये

प्रथम संस्करण
१९८९ ईसवी

परिमल प्रकाशन
१७, एम.आई.जी. बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर
इलाहाबाद २११००६
फोन: ५२७७१

हिन्दी-साहित्य और काव्य के
प्रेमी
न्यायमूर्ति श्री प्रेमशंकर गुप्त
को
सादर समर्पित
यह काव्य-संकलन
'बोले बोल अबोल'

भूमिका

इसी संकलन की एक कविता की प्रथम पंक्ति ही इसके नाम का कारण बनी। वह कविता 'स्टार-वार' से सम्बन्धित है।

एक तो प्राकृतिक सृष्टि है। वह, आदमी के अस्तित्व में आने से, बहुत पहले से चली आ रही है। उसके अपने प्राकृतिक नियम हैं, जिनके कारण उसमें युगों-युगों से परिवर्तन होते रहते हैं और नये पेड़-पौधे, नयी वनस्पतियाँ, नये पशु-पक्षी तथा अन्डज, स्वेदज और उद्भिज उत्पत्तियाँ होती रहती है। आदमी भी, इसी विकास-क्रम मे, अस्तित्व मे आया और वह भी इसी प्रकृति के परिवेश मे जीने लगा।

आज जो आदमी का स्वरूप है, वह वैसा ही नही है, जैसा आदिकाल में था। आदमी को, प्रारम्भ में, पशुओं का जीवन जीना पड़ा। हजारों वर्ष के संघर्ष के बाद, वह भूमि से जुड़ा और अन्न उपजाने लगा। पहले, थोड़े लोग थे, लेकिन जैसे-जैसे और लोग पैदा होते गये, वैसे-वैसे वह अपने को सामूहिक जीवन में ढालने लगा और अधिक उपजाऊ और अच्छी भूमि के लिए अपने पहले के स्थानों से अन्य स्थानो को अपने कब्जे में लाने लगा।

वह समूह में रहता और समूह में काम करता। अब तक वह परिवार नही बना सका था। उत्तरोत्तर वह वहाँ तक पहुँचा, जहाँ वह कुटुम्ब, कबीले बनाकर जीवन-यापन करने लगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के औजार बनाने लगा और धनुष-बाण का भी प्रयोग करने लगा। वह आखेटक भी बना और पशु-पक्षियों को मार कर खाने लगा और उनसे अपनी सुरक्षा भी करने लगा।

शुरू में वह संकेतो से काम लेता। बाद को, शब्दों के उच्चारण द्वारा, एक दूसरे से अपनी बात कह सकने का अभ्यस्त होने लगा। पहले उसका शब्द-ज्ञान बहुत सीमित था। उसके पास थोड़े से ही काम-चलाऊ शब्द रहे, जिन्हें वह परिवार या कुटुम्ब या कबीले के सदस्यों से खेती-बाड़ी और औजारो के बारे में या प्रकृति के प्रकोप से आतंकित होने पर प्रयुक्त करता रहा। इस तरह वह अपनी नई मानसिकता बनाते हुए उसकी अभिव्यक्ति करने लगा, प्रकृति की महाशक्ति को प्रसन्न करने के लिए अपनी पूजा, उपासना तथा आराधना के समय विनय के विनीत वाक्यों एवं पदों का प्रयोग करने लगा। दीर्घकाल तक यह क्रम चलता रहा।

फिर ऐसा भी समय आया, जब आदमी ने गण बनाये और फिर उनमें

रह कर अपनी सामाजिकता विकसित करने लगा। एक नहीं, ऐसे कई गणों की स्थापना हुई। फिर गणो में संघर्ष होने लगा और हार-जीत के युद्ध होने लगे। यह सब होता रहा। अतीत में, आदमी देशी और विदेशी आक्रमणों के दुःख झेलता हुआ, सामंती व्यवस्था तक पहुँचा। सामंतों में भी संघर्ष होता, एक हारता एक जीतता। जीतने वाला पक्ष हारने वाले पक्ष के आदमियों को बन्दी बनाता।

व्यापार भी विकसित होता रहा। बाजारें बनती रहीं। दुर्गम और कठिन मार्गों से होकर यात्राएँ होती रहीं। राजे-महराजे हुए। उनके अपने राज दरबार बने। मंत्रीगण, पुरोहित और सलाहकार बनाए गए। सेनाएँ कायम की गयीं। फिर जब विदेशी आक्रमण हुए तब तुर्कों और मुगलों के शासनकाल में आंतरिक व्यवस्था टूटने लगी। उसके स्थान पर, शासन के अनुरूप, नयी व्यवस्था का निर्माण होने लगा। धर्म-कर्म-शिक्षा और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के रूप भी यथानुरूप बदलने लगे। लेकिन मुगलों के जमाने तक देश की संपदा देश में ही रही और भूमि तथा व्यवसाय भी जनता के पास रहे।

अंग्रेजों के आने के बाद से ऐसा हुआ कि यहाँ का व्यापार चौपट हुआ और कारीगर तथा कर्मी लोग आर्थिक विषमता के शिकार हुए। देश की उपज विदेश जाने लगी और वहीं से माल बन कर, देश में आने लगा। देश का शोषण होने लगा और पूरा भारत दासता से जकड़ गया।

कांग्रेस की स्थापना हुई। क्रमशः राजनीतिक सरगर्मी बढ़ने लगी। शासक और शासित के बीच सम्बन्ध क्षीण होने लगे और जनता मुक्तिकामी हो कर अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करने लगी। देश स्वतंत्र हुआ। लेकिन, इतिहास साक्षी है कि अंग्रेजो से भारत को जो स्वाधीनता मिली, उसका प्रशासनिक स्वरूप लगभग वैसा ही बना रहा, जैसा कि अंग्रेजों के जमाने में था।

इन्हीं परिस्थितियों में, देश के अन्दर साहित्य काव्य और कला का सृजन होता रहा, वह भी शासकों की अभिरुचियों के अनुरूप, उन्हीं की संतुष्टि के लिए ही। समाज वर्ग-विभाजित बना रहा। शिक्षा-प्रसार नहीं के बराबर था। जनता के कवि और कलाकार शासकों से सीधे टक्कर लेने वाला काव्य और साहित्य नहीं लिख सके, बल्कि उन्होंने दूसरा रास्ता अपनाया। सगुण और निर्गुण कवि, अपनी रचनाओं के द्वारा, जनता के टूटे हुए मनोबल को लौकिक से अलौकिक आराध्यदेव की ओर मोड़ कर, राजनीति से हट कर जीवन जीते हुए, अपने को परमसत्ता में समर्पित किए रहे।

सन् १८५७ में क्रांति की शुरुआत हुई। वह एक महान उद्देश्य की पूर्ति

के लिए की गयी। पर दुर्भाग्य से परिस्थितियों ने उसे सफल न होने दिया। नतीजा यह हुआ कि जब अंग्रेजों से देश को स्वतंत्रता मिली, तो वास्तव में वह आम जनता को नहीं, सामंतो, धनाढ्यों, वकीलों और बौद्धिकों को मिली। इसी का यह दुःखद परिणाम हुआ कि कांग्रेस के इतने लम्बे शासनकाल में भी प्रान्त-प्रान्त की जनता अब तक संवैधानिक दुःख-दर्द भोग रही है।

मैंने जो यह सब बातें कही हैं, उससे स्पष्ट हो जायगा कि अतीत में काव्य और साहित्य का जो सृजन हो रहा था, वह जनता के जीवन का सत्यान्वेषी नहीं, अपितु यथास्थिति में जीते रहने की प्रवृत्ति का ही साहित्य था।

अब वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। आगे भी प्राप्त होती रहेंगी। उधर समाजवादी देशों में जनक्रांतियाँ हो चुकी हैं और वहाँ समाजवादी राज्य कायम हो चुके हैं। तात्पर्य यह कि संसार का शासन दो भिन्न जीवन-दर्शन के अनुसार होने लगा है। एक जीवन-दर्शन तो भाववादी या परिकल्पनात्मक जीवन-दर्शन है, जो आम जनता को जैसा है, वैसा भोगने को विवश बनाए रखता है और राज्य सत्ता कुछ व्यक्तियों की मुट्ठी में चली जाती है। जनता को, शासन मे हस्तक्षेप करने का जो अधिकार दिया भी जाता है, वह ऐसा नहीं होता कि वह उसमें कुछ मूलभूत परिवर्तन कर सके और स्वयं निर्णायक भूमिका अदा कर सके।

दूसरा जीवन-दर्शन उसके बिल्कुल विपरीत, भौतिक जीवन-दर्शन होता है, जिसमें शासन जनता के हाथ मे होता है। ऐसे शासन मे कोई अलौकिक हस्तक्षेप नहीं होता। शोषण मिट जाता है और सबको समान अधिकार प्राप्त होते हैं। न्याय भी यथानुरूप आम जनता के हितों का संरक्षक बन जाता है। शिक्षा सबको सुलभ होती है। रोजगार सबको मिलता है। काव्य, कला और साहित्य में वर्गीय भूमिका समाप्त हो जाती है। ऐसा समाज व शासन जनमानस की मानसिकता को विकसित सत्य की ओर ले जाता है, सत्य को ग्रहण करने की ओर प्रेरित करता है। मानवीय चेतना महान मानवीय मूल्यों से निर्मित होने लगती है। प्रगतिशील साहित्य इसी जीवन-दर्शन का साहित्य है।

प्रगतिशील साहित्य के सृजन की इसीलिए आवश्यकता हुई कि वह, प्राकृत सृष्टि के और परिकल्पनात्मक सृष्टि के समकक्ष, एक ऐसी साहित्यिक सृष्टि दे सके, जो वैज्ञानिक सत्य से सम्बद्ध हो और किसी भी रूप में वर्गीय न हो और नाना प्रकार की रूढ़ियों, अंधविश्वासों और निजी अभिरुचियो

से मुक्त हो। मानवीय चेतना को ऐसे ही विकसित करके संसार की आम जनता सुखी और समृद्ध हो सकती है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि ऐसी मुक्त मानवीय चेतना से रचे गए काव्य और साहित्य को विकसित नही होने दिया गया। आज तक यही कहा गया कि प्रगतिशील साहित्य, आरोपित साहित्य है, मौलिक नहीं है। वह आदमियों की मानसिकता को कुंठित करता है, उसे नष्ट करता है।

देखना यही है कि सच क्या है?

मैं प्रगतिशील साहित्य के पक्ष मे कुछ आवश्यक तथ्य रखता हूँ। पहली बात तो यह है कि एक तो प्राकृत सृष्टि है ही, उसका क्रम तो चल ही रहा है। दूसरी मानवीय सृष्टि है, जिसे कवि और साहित्यकार निर्मित कर रहे हैं। इतिहास बताता है कि ऐसी सृष्टि आदमी की चेतन सृष्टि है। आदमी उत्तरोत्तर अपनी चेतना को विकसित करता जाता है, और उसी से जो सृष्टि करता है, वह उसकी चेतन सृष्टि होती है।

जब से आदमी ऐसा करने लगा है, तब से अतीत में ऐसे काल-खण्ड नहीं आए, जब उसकी चेतना के अतिरिक्त उसके पास कोई अवचेतन-उपचेतन मानसिक स्थितियाँ रही हों। अवचेतन और उपचेतन है क्या? यह ऐसी मानसिक स्थितियाँ हैं, जो समय के साथ, आदमी के संघर्ष के साथ, और उसके जीवन जीने की कार्य-क्षमता के साथ, कभी जुड़ी नही। दूसरे शब्दों में, उन्हें वही छोड़ दी गयी मानसिकता कहा जा सकता है, जो कभी चेतन रूप नही ले सकी। तो, वह एक तरह की भूली-बिसरी, त्यागी, त्यक्त पड़ी रह गयी, पहले की अविवेचित और अविवेकित ग्रंथियाँ हैं, जिसको चेतन आदमी ने कोई महत्व नही दिया। ये संस्कार भी नही हैं।

अब देखना है कि उन मानसिक स्थितियों का क्या कोई, चेतन मानवीय काव्य और साहित्य में स्थान है या नहीं?

मैं समझता हूँ कि प्राकृत सृष्टि की समकक्षी मानवीय चेतन सृष्टि में ऐसे उपचेतन और अवचेतन को कोई स्थान नही दिया जा सकता। उसका पहला कारण तो यही है कि ये (अवचेतन और उपचेतन) मानवीय चेतन सृष्टि के प्राथमिक आधार के ही विरुद्ध जाते हैं, क्योंकि तब तो चेतन और अवचेतन का अस्तित्व ही संभव नही हुआ था। फिर बाद को जब सामाजिक व्यवस्था ने आदमी को संकीर्ण बना दिया और राज्यसत्ता तथा प्रभुसत्ता प्रबल सत्ताधारियों के हाथ मे चली गयी, तब प्राथमिक मानवीय चेतना अपने प्रवाह से अलग कर दी गयी और संकीर्णता ने उसको गतिशील होने से

रोक दिया। परिणाम यह हुआ कि ये मन:स्थितियाँ मानव के संस्कारी जीवन में भी न आ सकीं और वहीं की वहीं, परत-दर-परत में, दबी पड़ी रह गयीं। जब बाद को, कभी किसी परिस्थिति विशेष में, या वैयक्तिकता को स्थापित करने के आवेश में, या मौलिक होने के रंग में, आदमी आया, तो वह इनका पक्ष ले कर आम मानवीय चेतन सृष्टि को ही नकारने के प्रयत्न में उसने अवचेतन या उपचेतन की नयी सृष्टि की अवतारणा प्रारंभ कर दी।

वास्तव में, जो अचेतन रहा या जो उपचेतन रहा, वह तो इसीलिए आदमी के दिमाग में पड़ा रह गया क्योंकि वह उसके लिए निरर्थक था। तो, बाद को उनको ले कर यह नहीं कहा जा सकता कि इन्हें भी साहित्य और काव्य मे स्थान दिया जाय और उनकी महत्ता स्वीकार की जाय और इन्हीं-इन्हीं को मौलिकता और वैयक्तिकता का सार समझा जाय और जो कुछ, इन्हें छोड़ कर, साहित्यिक या कलात्मक सृष्टि की जा रही है, वह निरर्थक है।

मेरी समझ मे अवचेतन और उपचेतन एक तरह के मानसिक विकार है, जो आदमी के सत्यान्वेषी जीवन न जीने की वजह से, उसके मस्तिष्क मे पैदा हुए। उनको मैं रोग कह सकता हूँ। इनका निदान किसी मनो-चिकित्सक द्वारा किया जाना चाहिए, न कि इनको आदमी की चेतन सृष्टि के समकक्ष साहित्य और काव्य में कोई स्थान दिया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, मैं यह भी कहता हूँ कि इनको आज, वर्षों के बाद, साहित्य और काव्य की प्रगतिशील सृष्टि मे देने का मतलब अपने साहित्य और काम को रुग्ण बनाना है, जो सर्वथा अनुचित है। ऐसा न जनहित में होना चाहिए, न व्यक्ति के हित में। जो भी सृष्टि की जाती है, उस सृष्टि का एक विवेकपूर्ण आदर्शोन्मुख चरित्र बनाया जाता है, ताकि वह सामाजिक दायित्व का वहन कर सके और सामाजिक जीवन मे सुरुचिपूर्ण सौंदर्य स्थापित कर सके और चेतन सृष्टि की निरंतरता कायम रह सके और ऐसा न हो कि वह प्रकृत सृष्टि के समकक्ष पहुँचा दी जाय, जहाँ सैकड़ों, करोड़ों वर्षों तक किसी रचना की सम्भावना न हो।

उपरोक्त विवेचन मैंने इस संकलन की भूमिका में इसलिए करना आवश्यक समझा कि प्रस्तुत संकलन में कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जो मेरे इसी कथन को प्रमाणित करती हैं। इस दृष्टि से इन कविताओं को पाठक पढ़ेंगे, तो उनकी सार्थकता का महत्व समझेंगे और उन्हें यह कह कर नकार न देंगे कि यह सपाटबयानी है।

सपाटबयानी जहाँ केवल तर्कहीन और अविवेकी होती है या अवैज्ञानिक

होती है अथवा केवल राजनीतिक बात में होती है, वहाँ यह दरअसल में सपाटबयानी होती है, लेकिन जहाँ, जो कुछ कविता में कहा गया है, वह सत्य की पकड़ से उद्भूत हुआ है और भाषा उसे लेकर सत्य के रूप में स्थापित कर सकी है, वहाँ वह सपाटबयानी नही हो सकती। ऐसी कविताओं को नकारा नहीं जा सकता। इनका भी आज के युग में, आज के साहित्यिक संदर्भ में, मानवीय चेतना के विकास के लिए, लिखा जाना और प्रकाशित कराना परम आवश्यक है। हो सकता है कि ऐसी कविताएं, अभी नये संदर्भों में लिखी जाने की वजह से, वह कलात्मक गठन न पा सकीं हों, जो केवल दीर्घकाल के बाद ही अर्जित होती हो। ऐसी कविताएँ नवागत कविताएँ है। इनकी सत्य की पकड़ ही इनका प्राण है। वही इनकी कलात्मकता है। इसी कलात्मकता से दिक्भ्रम और दृष्टिदोष दूर हो सकता है। कथा भी कई तरह से व्यक्त होती है, यह भी उन्ही में से एक है।

अन्य कविताओं के बारे में कुछ विशेष नहीं कहना। पाठक स्वयं पढ़ कर अपनी राय बनायें।

अन्त में मैं आभार प्रकट करता हूँ, विशेष रूप से डॉ० अशोक त्रिपाठी के प्रति, जिन्होंने अपना सहयोग दिया और मेरे श्रम को सार्थक किया। इनके अतिरिक्त अपने प्रकाशक श्री शिव कुमार सहाय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ कि वह सक्रिय रूप से संकलन के प्रकाशन मे पूरे समय जुड़े रहे हैं। बांदा के सर्वश्री कृष्ण मुरारी पहाड़िया, नरेन्द्र पुंडरीक, श्री कौशल किशोर व एहसान आवारा भी मेरे आभार के अधिकारी हैं। ओंकार शरद ने बड़े स्नेह से इस संकलन की सामग्री के चयन में सहयोग दिया। उनका भी आभारी हूँ। प्रेम शंकर रघुवंशी (कवि) भी आभार पाने के अधिकारी हैं। उन्हें भी मेरा आभार।

बांदा
२६-७-८५

केदार नाथ अग्रवाल

अनुक्रम

□



बोले बोल अबोल

वह

समाज में

न्याय न पाकर,

अन्यायों की चोट दबा कर,

भरी देह का

नेह सुखा कर,

खाकर ठोकर—

रोम दुखा कर,

अपने सपने

धूल बना कर,

कर से कर पर की मजदूरी,

पग से

हर, पल-पल की दूरी;

जीवन जीती है

अनचाहा,

दुख-दारिद पीती अनथाहा।

५-४-६३

न रहा मेरा दोस्त नरोत्तम नागर,
दमदार कलम का तेज शब्दकार,
परवश पेट का चाकर

बुझ गई आग—
चौवन बरस की अप्रतिम आग—
लपट मारते-मारते,
खेलते-खेलते राजधानी में
सम्पादकीय फाग

दर्द को ठेलते-ठेलते खुले सीने से,
तरबतर पसीने से,
अंत तक काटता रहा—काटता रहा
दिन और रात के श्वेत और श्याम पहाड़

काश
वह जीता
अभी और—
अभी और!
न होता मौत के मुँह का कौर।

६-२-६८

चि० विजय नागर के पत्र मिलने पर

न ले गया चन्द्रमा
नदी को अपने साथ
चूम-चूम कर प्रसन्न था जिसे, सारी रात
अपनी बनाये

तट पर पड़ी तड़पती है अब
अकुलाई नदी,
आतंक भोगती,
पारगामी पुल का भार छाती पर
उठाये।

२-४-६८

लिखूंगा मैं
फिर-फिर वही
सत्य की कही
सौ फी सदी सही;
नहीं...नहीं —
असत्य की कही नहीं

तुम,
बस तुम—
अपने में गुम,
काव्य की भटाई करो,
चिलम चाहे अपनी
या पराई भरो।

१५-११-८१

न्याय का पारा गिरा
नीचे
    और नीचे गिरा;
शून्य तक पहुँचा;
सत्य की हार
    और झूठ की
        जीत हुई

मौसम
    खराब है
        गिरावट का,
मातम की मिलावट का।

२६-११-८१

आग पर चढ़ी 'वटुई',
खुदुर-खुद
खुदबुद करती है

भाफ है
कि ठेलती-ठालती
कटोरी को
वारम्बार उठाती-बैठाती है
वटुई के मुँह पर

जलती-जागती
लकड़ियों की धधक में
चूल्हे पर चढ़ा चावल चुरता है

धुआई विटिया
अंसुवाई बैठी
कोठे में, देखती है
पेट के पालने का
हो रहा आतुर उपचार;
सुनती हुई
भूखोद्धार का मंत्रोच्चार।

२६-११-८१

उगते-उगते उगा
आदिम अस्तित्व के बीज से,
अनपढ़ आदमी के खलपट पेट में
वाजिब सत्य का वाजिब पेड़,
लेकिन देर से—विलम्ब से;
और फिर,
बढ़ते-बढ़ते,
बरसों में बढ़ा, सूत-सूत करके,
कंठ तक आकर रह गया रुका—
अस्फुट,
अशब्द,
वाणी विहीन;
कह सकने में
असमर्थ अपनी कथा,—
न फूल सकने—
न फल सकने की व्यथा।

१०-१०-८१

इनको घमंड है
  पहाड़ खोद कर
  चुहिया निकाल लाने का :
रामायनी भूमि पर
      भटकटैया उगाने का :
करछुल भर लिख कर ही
      कालिदास होने का—
करछुल भर खाने पर
    फौरन बिक जाने का
इसीलिए अक्षम हैं
    अच्छा लिख पाने में,
कविता को कंठ से लगाने में।

१४-८-८१

घरों के लोग
      घरों से बाहर हुए,
चोर-उचक्के
      घरों के भीतर हुए।

२८-३-८३

वियावान में नहीं
शहर में रहता हूँ,
जहाँ आदमी का
आदमी खाये जाता है
शान-शौकत का भूगोल बनाने में,
पूँजी का पुंजीभूत आतंक जमाने में,
तभी तो अकेला हूँ,
मैं ही गुरू—
और मैं ही चेला हूँ।

३-४-८३

चलो,
बैठें,
धूप खायें,
भूख वैभव की मिटायें,
पियें पानी,
जियें,
गुन से गुनगुनायें,
रोशनी का प्यार पायें,
जिंदगी की
जय मनायें।

१२-८-८३

चला भी

न चला मैं

समय के साथ सब चले जहाँ

मिले भी

न मिले मुझे पवन के पाँव

चक्कर काटते

भूगोल और खगोल का

न दिन हुआ मेरा

न रात हुई मेरी

बहुत उद्विग्न करती है

व्यामोह की बजती भेरी।

३०-८-७५

दीवार में टँगा
तसवीर हो गया मैं

दूसरों के लिए
दिव्य और दर्शनीय हो गया मैं

अपने लिए
फांकेमस्त फकीर
हो गया मैं।

४-१०-८३

अब भी
इस उम्र में
कलम पकड़े
काँपते हाथ से,
देश और काल की—
कल और आज की
अक्षर कविता लिखता हूँ
कागजी काया पर ;
निरक्षर भट्टाचार्य की तरह
संसार की कक्षा में
हर हमेश पिटते दिखता हूँ।

१४-३-८४

हँसो,
इस 'हम' पर हँसो;
इस 'हम' को मथो;
खोट से खोटे इस 'हम' को कसो;
हँसो,
इस 'हम' पर हँसो

हँसो,
इस 'हम' पर हँसो;
दम्भ से दागी
इस 'हम' को डसो;
डाह से नहीं—
द्वेष से नहीं
प्यार से;
प्यार ही प्यार भरो,
इस 'हम' का विष हरो।

२५-३-८४

हर्ष न आया,
आया तो बस आया
विषम विषाद,
जब से तुम-भुजंग ने शासन पाया
देश हुआ बरबाद।

१०-४-८४

सच तुम्हारा
नहीं सच है;
झूठ का ही वह कवच है,
वही रक्षक—
वही त्वच है।

५-५-८४

क्या है व्यवस्था
जो अव्यवस्थित नही है—
भ्रष्टाचार के प्रति समर्पित नही है—
अत्याचार के लिये तत्पर नहीं है—
जिसमें
भ्रम और भटकाव का चक्कर नही है
तभी तो
व्यवस्थित देश अव्यवस्थित है,
भ्रष्टाचार के प्रति समर्पित है,
अत्याचार के लिए तत्पर है
भ्रम और भटकाव का
चालू किये चक्कर है।

६-५-८४

मैंने कहा :

कहाँ चले ?

बोला वह :

काम जहाँ चले—

पेट जहाँ पले—

दाल जहाँ गले

मैंने कहा :

ऐसी जगह कहाँ ?

बोला वह :

पता नहीं कहाँ;

शायद है वहाँ—

धरती और अम्बर का

छोर जहाँ

मैंने कहा :

वह तो बड़ी दूर है

बोला वह :

हिम्मत भरपूर है।

७-५-८४

देश के भीतर दहन और दाह है,
अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर
वाह-वाह है !

७-५-८४

बूढा पेड़,
बयार बसंती,
मिले मगन मन—
पतझर के उपरांत;
कुहकी कोयल,
देख-देख दोनों का प्यार
नैसर्गिक संभ्रांत;
पुलक उठा संसार।

२१-५-८४

जग सोया,
        जागी गंधाली—
प्राणसार प्रज्ञा प्रतिपाली,
गुलार्पित
                तत्वज्ञान की—
प्रस्फुट प्रमुद विधान ध्यान की,
मुक्त मानसी तरु अम्लान की,
आत्म-बोध-विद् वाली

द्रव्य-द्रवण की नंदित धारा,
प्रवहमान हो परम उदारा,
गंधवान करती भव सारा,
मौन मोहिनी चिद्वाली ।

२२-१-८४

विना वजाये ही
वजाते-से खड़े हैं
मैदान के एक कोने में
धतूरे के पेड़,
मुंह से लगाये तुरही,
निश्चित और निरापद,
उपेक्षा को उपेक्षित किये

न बजी
इनके बजाये
इनकी तुरही
फिर भी
खड़े हैं तो खड़े हैं
उसी जगह
उसी तरह
प्रकृति के आदेशानुसार
मुंह से लगाये तुरही।

२५-५-८४

मेघ बरसे,
आ गया पानी गगन से,
तरल मंगल-मोद की उत्पत्ति करने—
मेदिनी की व्यथा हरने
नदी-नद-पर्वत-प्रकृति को
मिला जीवन,
हरहराये हर्ष से आवर्त वन ।

२८-६-८४

पहाड़ के पंख—
बादल

पानी बरसते हैं,
झमाझम—
झमाझम—
कौंधते कड़कते हैं

पानी में
नहाये हम,
भीतर से
बाहर से
नये हुए हम,
चेतन हुए हम,
सूर्य-से चमकते हैं।

७-७-८४

मेघ बरसे,
आ गया पानी गगन से,
तरल मंगल-मोद की उत्पत्ति करने—
मेदिनी की व्यथा हरने
नदी-नद-पर्वत-प्रकृति को
मिला जीवन,
हरहराये हर्ष से आद्यंत वन।

२८-६-८४

मौत को जीते
जी रहे हैं
मेरे शब्द
यथार्थ से कसमसाते—
विसंगतियों से
अकुलाते,
आदमी को
आदमी होने की
असलियत बताते।

७-१०-८३

कांता की कविताएँ पढ़ कर

मौत को जीते
जी रहे हैं
मेरे शब्द
यथार्थ से कसमसाते—
विसंगतियों से
अकुलाते,
आदमी को
आदमी होने की
असलियत बताते।

७-१०-८३

कांता की कविताएँ पढ़ कर

जंगली जनतंत्र के
व्यापक प्रपंच और प्रसार में
सामाजिक न्याय पाने की
पूरी प्रक्रिया जटिल है;
आम आदमी के लिए तो यह
और भी
और भी
क्रूर और कुटिल है,
चारो ओर 'किलकिल' है

भुक्त भोगी कहते है :
रोओ मत, बेटा!
यहाँ ठेंगा और,
'टिलटिल' है।

२०-७-८४

सूर्य नहीं डूबता साहब !
घूमती दुनिया
स्वयं सूर्य से मुंह फेर लेती है;
उजाला उतार कर
अँधेरा लपेट लेती है;
तभी तो आदमी
यथास्थिति में पड़े-पड़े
अंधे हुए हैं;
सुबह से पहले
अँधेर नगरी में
खोये हुए है
सूर्य नहीं—
आदमी डूबता है, साहब !

२७-७-८४

न जाने कहाँ चली गई बिजली ?
अँधेरे में अंधा कर गई हमको
असहाय
अब
टटोलते हैं अपना शरीर,
अपना अस्तित्व
खोजते हैं अधीर।

३१-७-८४

पाँव न पकड़ो

इनके-उनके,

कंचन के सिर-काँधे जिनके,

पाँव नहीं हैं जिनके अपने,

झूठे होते जिनके सपने ।

५-८-८४

आप जो करती हैं
देश में, देश के लिए
यदा-कदा ठीक करती हैं;
कुछ ऐसे कि
जो खराब है—
खूसट है न दिखे,
दिखे तो बस ऐसे
कि ऊपर-ऊपर अच्छा दिखे,
आपके लोग
आपको अच्छा कहें;
आपका सिक्का बराबर चालू रहे,
जहाँ कुछ न होता दिखे—
वहाँ महोत्सव होता दिखे,
उत्पात की भीड़
उल्लास का झंडा,
उठाये फिरे।

६-६-८४

जलते
टिमकते हैं
अंधेर की अंधी रात में
अनया माटी के दिये,
आग के अंखुए उगाये,
साल भर बाद
लौट आई 'लछमिनिया' के
स्वागत में
'शुभ' से 'अशुभ' को
परास्त करते हैं
भड़भड़िया पटाखे,
छूटते-फूटते
जान देते,
'लाभ' के लिये लालायित,
विकीर्ण करते
आत्मदाही आलोक,
धुंए के
शासनागार में।

२६-६-८४



जलते

टिमकते है

अंधेर की अंधी रात में

अनया माटी के दिये,

आग के अंखुए उगाये,

साल भर बाद

लौट आई 'लछमिनिया' के

स्वागत में

'शुभ' से 'अशुभ' को

परास्त करते हैं

भड़भड़िया पटाखे,

छूटते-फूटते

जान देते,

'लाभ' के लिये लालायित,

विकीर्ण करते

आत्मदाही आलोक,

धुँए के

शासनागार में।

२६-६-८४

गये अब वे दिन तुम्हारे
तेजतापी—
प्रण-प्रतापी—
सिंहनादी—
निशाघाती—
ध्वजाधारी—
धनुर्धारी

रहे अब तुम तो अकेले,
मेरु से तल में ढकेले,
सहो तम के कुटिल रेले,
प्राणघाती सौ झमेले

बचे अब ये दिन तुम्हारे,
जियो इनको थके हारे;
झुके बैठे, मौन धारे,
केंचुली गत की उतारे।

३-८-८४

जब हम आये

बंधन में बँध कर चिचियाये,

फिर जीवन भर इधर-उधर हम

रहे-बहे अकुलाये,

जैसे-तैसे आगे बढ़ते

खड़े पहाड़ों से टकराये,

तन से टूटे, मन से टूटे

दिन में दहके

और रात में बौराये;

जितना देखा,

जितना सीखा,

उसको सिर पर फिरे उठाये;

बादल ने—बिजली ने मारा,

फिर भी प्यार मिला फूलों का,

हम मुसकाये;

अपना बोझा आप उठाये,

चले पंथ अपना, इठलाये

कभी ओढ़ते रंग प्रात के,

कभी तड़पते दिनाघात से,

छोटे रहे, छाँह क्या देते,

सदा रहे हम बिना पात के

लड़े द्वन्द्व से कविता बनकर,
शब्द-शब्द को साधे, तन कर;
अर्थवंत हो प्राण बचाये,
इस दुनिया को कंठ लगाये।

८-३-८५

माह फरवरी का छब्बिसवां दिन था
बिटिया मेरी किरन हुई फिर विधवा
तज कर गये हरीश जी

भारी वज्राघात हुआ हम सब पर
रोये, तड़पे और विकल घबराये;
दिन की बांह रहे हम पकड़े पल-छिन,
चले डोलते डगमग पांव बढ़ाये

रातें काटी बिना नींद के हमने,
सांसें लेते रहे प्राण को साधे;
अंधकार में दिखे न हमको तारे,
टूटा धैर्य रहे हम उसको बांधे

उठे सवेरे सूरज देखा, रोते
विवश हुए हम फिर दुनिया ने घेरा,
काम काज में डूबे, मन से ऊबे,
व्यर्थ लगा फिर यह सब मेरा-तेरा ।

पूरी तरह पराजित, पीड़ित, चिंतित,
युग-यथार्थ के टक्कर हमने खाये
जैसे-तैसे जीवन जीते-जीते,
बीती बातों से मन को उलझाये ।

१७-३-८५

चीखता चला गया,
निर्बन्ध उड़ता जहाज का पंछी
न जाने कहाँ आकाश में,
मुझे छोड़ कर अकेला,
यहाँ,
भोगने के लिये
हरहराती लहरों का रेला।

३१-१०-७२

संग्राम
चल रहा है
सूर्य का
मेरे मस्तिष्क में

हताहत
हो रहा है
आसुरी
अँधेरा असहनीय

क्षराक्षर
क्षर रहा है
संज्ञान,
सत्यापित कमनीय,

जीवंत
जी रहा हूँ
जिंदगी
प्रमुद भूमंडलीय

२८-४-८५

बहुत दिनों से रोके-थामे अपने आँसू,
भीतर-भीतर रुँद रहा मैं
धीरज धारे,
लेकिन आज
अचानक रोया
फफक-फफक कर,
जैसा पहले कभी न रोया
इतना ऐसे,
प्रिया बहुत कमजोर हुई बीमार पड़ी है,
आँखें
बंद किये रहती हैं,
नहीं खोलतीं,
ओठ न खुलते,
बिना बोल के
काँप काँप जाते
आज सुबह से
जन्म दिवस पर
दुखी द्रवित हूँ,
जीवन-साथी की पीड़ा से प्राण तड़पते,
साहस पल-छिन टूट रहा है
झटके खाते,

बुढ़िया देह, इंद्रियाँ बूढ़ीं
हतोत्साह है,
जाने क्या होने वाला है ?
नहीं समझ में आता
चेतन भी मैं हुआ अचेतन,
बेकाबू घबराता
डूब-डूब अंधे सागर में
मैं उतराता
अगम अथाह व्यथा का कोई
छोर न पाता,
उड़ते पक्षी देख विकल मन,
टूटा जाता ।

१-४-८५

फूल उठा मेरा गुलमोहर
लम्बे क़द का
फिर इस बार
मई महीने के पहले सप्ताह में

वह सूरज से लड़ा,
न हारा;
सूरज हारा

काम न आये दहन-दाह के
दाँव प्रतापी

मुँह की खाई एक आँख के पहलवान ने,
साख गँवाई;
यह देखा मैदान ने
पशु-पक्षी-इंसान ने

खुश हैं फूल, छोटे-छोटे, बेहद प्यारे,
रूप-रंग मे देह सँवारे

गुलमोहर की जीत
जीवन की ही जीत है
हारे रवि की हार
दहन-दाह की हार है

यह छवि का संसार है,
मुझको इससे प्यार है।

४-५-८५

बल्ब का
'फ्यूज' होना
आदमी का मरना है;
न यहाँ रहना है—
न प्रयाण करना है;
न लौटकर आना है,
न पुनर्जन्म पाना है;
गये की याद
अवश्य रह जाना है;
यही क्रम
जीवन का जाना-माना है।

५-५-८५

सिर के ऊपर
चढ़ कर सूरज
आँख दिखाता है, दुनिया को
दहन-दाह से दहकी

पेड़ों के नीचे बैठी है
जान बचाये
सब छायाएँ, छोटी होकर,
खिन्नमना
दूर-दूर तक नहीं दिखाई देते राही;
आहें भरती है
जमीन पर
लेटी राहें

आकुल है
प्यासे पशु-पक्षी;
नहीं मिला है उनको अब तक -
किसी दिशा से
पानी का आमंत्रण
होता है धीरज-धनु-भंजन ।

घर के बाहर
धूप धधकती
बिना आग के धरती-जलती

घर के भीतर
ज्वराक्रांत है सारे कमरे—
सब दीवारें—
पक्के-पक्के फर्श हमारे

लपट मारता
हाँफ रहा है, चक्कर खाता, पंखा हारा

रुक-रुक जाती बिजली
नखरे कर कर आती,
फिर भी पानी
साथ न लाती,
शासन की बिटिया
शासन की नाक कटाती।

६-५-८५

तापित-तन गेही बेचारे,
गरमी के मारे,
मुँह बाये, तड़प रहे हैं
लुंठित हुए, सताये।

६-५-८५

आज सुबह से शाम हुए तक,
बुलबुल के जोड़े ने गाया;
मेरे घर में दिन भर गूंजा,
मधुर कंठ से गाया गाना

नर मादा दोनों के दोनों,
एक दूसरे पर मन वारे,
रस उँडेलते-रस को पीते,
दहन-दाह को रहे भुलाये

मैंने और प्रिया दोनों ने
सुना प्रेम से गाया गाना;
आत्म-विभोर हुए हम ऐसे,
हमने ही वह गाया जैसे

सफल हुआ दिन भर का जीना,
एक साथ मिल कर मधु पीना;
दहन-दाह की दुनिया भूले,
प्रेम-लोक का झूला-झूले ।

८-५-८५

बुलाये बुलाये से

आये भी तो जैसे न आये,

छोड़कर चली जाये

वह कोई और नहीं

पत्नी नहीं—

प्रिया नहीं—

कविता है,

जो किसी की अपनी नहीं ।

११-५-८५

सिर पर चढ़े सूर्य की
तूती वोलती है

संत्रस्त है सुवह से
खौलता वांदा,
धूप के ताये तापमान से

लपट की
लपेट में लिपटा
पहाड़,
नदी के नेह से वंचित,
समाधिस्थ है
देवाधिदेव के समान

आसमान भी
ताने है
आग का
अनवुझ अकम्पित वितान

प्राकृत प्रमोद में
कूकती कोयल

प्राणियों में प्राण फूंकती है
काल-भैरव से जूझती है

पीर से पीड़ित नीर
नदी की गोद में
लहरे लेता है
अधीर !

निर्भय खड़े है
जमीन के बेटे पेड़,
संकल्प से सधे—
पत्तियों से लदे,
बूढ़े और जवान
एक समान

मई का महीना
जुल्म का जाहिर महीना हुआ

जुल्म में
जीते लोग
क्षुब्ध हैं.
प्रकृति के निर्मम विधान से
आततायी सूर्य के संविधान से

पानी को पुकारते हैं
पानी के प्यासे लोग;
बहरा पानी नहीं सुनता—नहीं सुनता।

दूर है
अभी
बहुत दूर है बरसात
कि बादल आयें—
पीर हरें—पानी बरसायें—
प्यास बुझायें,
अत्याचार संताप समय का
शीघ्र मिटायें।

१२-५-८५

मरना होगा यह निश्चित है
नहीं जानता कोई-कैसे ?
फिर भी हम
        मरने से डरते,
डरते-डरते जीवन जीते,
जब तक जीते तुष्ट न होते,
असंतोष के आँसू रोते
दुर्बल मन के दुर्बल प्राणी,
मरते दम तक हारे रहते;
बिना किनारा बहते-बहते,
डूब-डूब कर
        फिर उतराते;
सुख के साथ नहीं रह पाते;
हम सुख की लहरों से टूटे,
बूँद-बूँद बन सब से छूटे।

१४-५-८५

उड़ उड़ जाती
फिर फिर आती
पतले तंतु दबाये लाती
बुलबुल अपनी नीड़ बनाती
नीड़ बनाने में खो जाती,

तंतु जोड़ती
गोल घुमाती
चक्राकार लपेट लगाती
अँजुरी की आकृति में लाती
प्रजनन-गृह को
रुचिर बनाती,

इसी नीड़ में अंडा देगी
अंडे के ऊपर बैठेगी
ममता से अंडा सेयेगी
मातृ-धर्म-निर्वाह करेगी,

पक कर जब अंडा टूटेगा
अंडे से बच्चा निकलेगा
तब बच्चे को प्यार करेगी
चारा देगी, भूख हरेगी,

बच्चा फिर उड़ना सीखेगा
उड़-उड़ कर जीवन जीतेगा
पेड़ों पर बैठे गायेगा
गा कर परम प्रसन्न रहेगा,

नीड़ यही गाथा कहता है
जीवन सदा अमर रहता है
इस विचार से सुख मिलता है
मेरा हृदय-कमल खिलता है,

बुलबुल गाये, फिर फिर गाये
आये-जाये नीड़ बनाये
बच्चे की माता बन जाये
जीवन की जय सदा मनाये।

१६-५-८५

बोले बोल अबोल
मर्माहत भूगोल-खगोल,

जनगण की कथनी से विचलित
असुर-समर करनी से विदलित
होकर डाँवाँडोल,

वर विवेक से बोधित, वंदित,
सत्य-समीक्षा से प्रतिबद्धित
शब्द-अर्थ को तोल,
बोले बोल अबोल,
मर्माहत भूगोल-खगोल।

१७-५-८५

टिके टेक पर, स्वाँग संवारे
आग-पीछा बिना विचारे
जीते है जो अपना चिंतन
मारे मौलिक बौद्धिक आसन,
वे
नितांत एकाकी प्राणी
अपनी वाणी के वरदानी
व्यक्तिवाद के प्रस्तोता हैं
सृष्टा है—
अपने श्रोता है,
इनसे
कभी न जनहित होगा
होगा तो बस अनहित होगा,
इनका
अपना घाट-किनारा
प्यारा है, दुनिया से न्यारा,
इनको मिली न शिव की काशी,
मिली इन्हें भ्रम-भूमि प्रवासी
ये हैं परम अलौकिक भोगी
इनसे हारे लौकिक योगी।

१७-५-८५

अभी,
आजकल
यों तपते हैं दिन,
जैसे
वे हों
खून चूसती
नरभक्षी बाघिन,

तब
फिर
कैसे होंगे दिन
जब नौ दिन नवतपा तपेगा ?

तब
नाचेगी
नाच मसानी
नौ दिन सातों जीभ निकाले
प्रखर अगिन ।

१८-५-८५

गोल गेंद से
पके-पके फल,
आत्म-सुगंधी—
कनकाभी-पीताभ
ऊँची डालों से लटकाये
पेड़ बेल का
खड़ा हुआ है,

दृढ़-प्रतिज्ञ-सा
हरी पत्तियों को लहराये
मेरे बाड़े के भीतर का वासी,

कई जगह से तना छिला है
छाल छील ले गये
नगर के रोगी
भजनानंदी भोगी,

आहत भी यह रहा अनाहत
पेड़ बेल का,
प्रवर वीर है
जीवन जीने का अभिलाषी,

इसे देख कर
        भूल गया मैं
अब तो अपना दीन बुढ़ापा;
यह मेरा ही युवा-रूप है
तन-मन प्राणों से प्रसन्न हूँ।

१६-५-८५

गृह-त्यागी बैरागिन होकर
मादा बया हमारे घर से
चली गई अनचाहे मन से
नीड़ छोड़ कर वना बनाया,

हमलावर भूखे बिलार की
नियति देख कर खोटी खूनी,
सूना नीड़ पुकारे उसको
गहरा दुख होता है मुझको।

२०-५-८५

पानी हो गई
गिलास में पड़े-पड़े
बर्फ की देह,
प्यासा आदमी
पानी पीता है
गिलास से,
बर्फ को धन्यवाद देता,
गले की प्यास बुझाये।

२२-५-८५

खड़ी हैं
मेरे आँगन में
दोनों हमजोलियाँ—
बोगन वेलियाँ
रंग-बिरंगे फूल खिलाये,
परावर्तित किये
मेरे अंतरंग में
जमीन में जीने का महोल्लास।

२०-५-८५

साल भर तक
न लाये
मेरे आँगन में खड़े
मोगरे के दोनों पेड़-भाई
एक भी फूल,

साल भर तक मैंने दिया पानी—
साल भर तक इनने पिया पानी—
बेकार गया पानी—
मेरा दिया पानी,

न खिलखिलाये—
न फूल लाये निर्लज्ज,
एक भी बार,

अब पहली बार
गिनती में लाये दो-चार
छोटे बहुत छोटे,
घुंडीदार-मुरदार।

२२-५-८५

रोया जहाँ
वहाँ पर मैंने गाना गाया,
गीतों का अक्षयवट
अबकी बार उगाया,
अंतरिक्ष तक
गूँज उठीं मेरी स्वर-ध्वनियाँ,
धरा-धूल पर
लगी नाचने छवि की परियाँ।

२७-५-८५

तन टूटा,

मन टूटा,

लेकिन आन न टूटी,

चाल-चलन की

पहलेवाली बान न छूटी,

बूढ़े कंधों पर

साधे हूँ सिर का बोझा,

नहीं चाहिए

मदद तुम्हारी औघड़ ओझा।

२८-५-८५

नहीं सहारा रहा
धरम का और करम का;
एक सहारा है
बस मुझको नेक कलम का,
जरा-मरण से हार न सकते
मेरे अक्षर
मेरी कविताएँ गायेगी
जनता सस्वर।

२८-५-८५

मैं देता हूँ
जनता को संज्ञान सहारा,
अपनी सत्यापित इन
कविताओं के द्वारा,
टूट-टूट जाती है इनसे
जड़-मति कारा;
इनको पाकर-गाकर कोई
कभी न हारा।

२८-५-८५

फिलहाल
अपनी धुआँती लालटेन लिए
अँधेरी रात में निकले,
पूर्णिमा की
तलाश में,

झाड़ियों में फँसे—
कराहते हैं
और सोचने का अंदाज
निबाहते हैं।

२८-५-८५।

शब्दों का अतिक्रमण करो
कहे के बाद जो अनकहा है उसे वरो
यह कुछ और नहीं—
आयातित कमजोरी है—
कल्पना कोरी है

इसके चक्कर में जो पड़ा
महान होने के बजाय—
जमीन में जिन्दा गड़ा।

२८-५-८५

सच का नाच

बंदर नहीं नाच पाते
फिर भी मदारी डमरू बजाते हैं
बंदर नचाते हैं
झूठे नाच से पैसा कमाते हैं।

२८-५-८५

वहीं आता हूँ मैं
जहाँ
ओस गिरी है,
उसे उठाने,
आलोक से गुदगुदाने,
आँख का तारा बनाने।

२६-५-८५

अशब्द की स्थिति में
शब्द-वेधन नहीं होता
नाम को भी संवेदन नहीं होता,
आदमी
इंद्रियों में नहीं—
कहीं और होता है
जहाँ न संचेतन होता है
न सम्प्रेषण होता है,
इयत्ता में अपनी
निरर्थक होता है,
न अलभ्य उसे मिलता है
न असीम उसे मिलता है
अशब्द की स्थिति में
आदमी विस्थापित होता है
न अपना होता है—
न पराया होता है।

२६-५-८५

क्या जाने क्या बात हुई ?

टिड्डा आया
तरु पर बैठा
उड़ कर फौरन चला गया
तरु कुम्हलाया

इस घटना ने मुझको छूकर
द्रवित बनाया
टिड्डा मुझको याद रह गया
तरु को मैंने सींचा—
हरा बनाया।

३०-५-८५

अपनी बिजली की
तलाश में निकला बादल,
चलते-चलते—
इस नगरी के महाकाश में आया
देखा उसने केन किनारे—
टुनटुनिया पर्वत के नीचे
आबादी में
बामदेव के मन्दिर तक में

कहीं न पाकर अपनी बिजली
ऐसे रोया जैसे रोये
राम विरह में, बड़ी देर तक
आंसू बरसे
खड़े पेड़ सब भीगे
धरती भीगी, उमड़ पड़ी करुणा की धारा

चला गया फिर चाँदा तज कर
लेकिन भूल गया ले जाना
अपना इंद्रधनुष सतरंगी,
बिना बान का खींचा-ताना

धीरे-धीरे गलता जाता,
आसमान में मिटता जाता
बादल के आने और,
बिजली के न होने पर।

३१-५-८५

उसका आना
सब ने जाना,
जाना नहीं किसी ने जाना;
वह झोंका था एक
हवा का;
आया
दुनिया बदल गई;
बदली दुनिया
सब को बदल रही;
जागे जनगण देश-देश में
जीवन की जय बोल रहे,
शांति-समर्थक—
युद्ध-विरोधी
मौन-बंद मुंह खोल रहे।

१-६-८५

रूस की अक्तूबर-क्रांति के आने पर

जो लिखाओ

वही लिखती है कलम

दोष-कलम का नहीं—

आदमी का है

कि आदमी की कलम

आदमी के खिलाफ लिखती है—

अपराध के खिलाफ

अपराध करती है,

झूठ को सच

और सच को झूठ करती है

जानो तो क्या ?
न जानो तो क्या ?
ऐसी बात नहीं है

जानना
पेड़ का—पहाड़ का
रेत और पानी का,
कर्म की रवानी का,
उनका हो जाना है—
सृष्टि से
एकात्म हो जाना है
अहं को सर्वात्म बनाना है।

न जानना
इनको-उनको—
आसपास के राज को—
दूर-दराज को—
धरती और आकाश के विस्तार को
दिन और रात के प्रसार को—
सूक्ष्म और स्थूल के भेद और विभेद को
द्रव्य और द्रवीभूत के वेद को—

जो लिखाओ

वही लिखती है कलम

दोष-कलम का नहीं—

आदमी का है

कि आदमी की कलम

आदमी के खिलाफ लिखती है—

निरपराध के खिलाफ

अपराध करती है,

झूठ को सच

और सच को झूठ करती है।

१-१०-८०

जानो तो क्या ?

न जानो तो क्या ?

ऐसी बात नहीं है

जानना

पेड़ का—पहाड़ का

रेत और पानी का,

कर्म की रवानी का,

उनका हो जाना है—

सृष्टि से

एकात्म हो जाना है

अहं को सर्वात्म बनाना है।

न जानना

इनको-उनको—

आसपास के राज को—

दूर-दराज को—

धरती और आकाश के विस्तार को

दिन और रात के प्रसार को—

सूक्ष्म और स्थूल के भेद और विभेद को

द्रव्य और द्रवीभूत के वेद को—

अपने को न जान पाना है—
निजत्व की गलत डुगडुगी बजाना है—
अस्तित्व को नकार जाना है—
डींग से डकार जाना है—
शून्य के संस्कार अपनाना है।

२०-१०-८१

आरपार खोजते रहे
खोजते-खोजते
एक-दूसरे के होते रहे
होते-होते
बिना हुए
एक दूसरे के होते रहे

आरपार देखते रहे
देखते-देखते
एक-दूसरे को भेंटते रहे
भेंटते-भेंटते
बिना भेटे
एक-दूसरे को भेंटते रहे।

२१-१०-८१

पानी पी गई नहर—

प्यास से सूखी नहर

ताकता रहा खेतों का

विपण्ण प्रसार

आसपास का

धूपखाया संसार

देह की तृप्ति

पानी से हुई

मिट्टी की गंध

नहर की नेकनामी हुई

आसमान से

उड़ आये जमीन पर पखेरू

चोंच और पंजों से पानी खोजते

नहर का कीचड़

खरोंचते हैं

जीभ लटकाये
    व्याकुल विलार और
सियार
रह गये प्यासे
    विना पाये
    पानी का प्यार

तपातप तापित है
        दर्पित दिवाकर के कोप से
आंतकित भूगोल
        और खगोल।

२३-६-८२

लीला के बाद,
रामलीला के राम
जंगली जनतंत्र में
रावण का रोल अदा करते है
दूसरों की सम्पदा हरते हैं

न भय से डरते,
न अनय से बचते हैं
जहाँ-देखो तहाँ
एक नई लंका रचते हैं।

६-१०-८२

गिर रहे हैं—
गिर रहे हैं
पत्ते
पटापट पटापट—
नये और पुराने
नन्हें-नादान और सयाने;
हरे,
ताँबिया,
पीले,
चरेर और मुलायम,
खड़े
पेड़ों से,
गाँव के भीतर-बाहर
कुएँ के पास—
घर के पास,
मदरसे के इर्द-गिर्द
मंदिर के गुम्बद पर
मस्जिद की पीठ पर
गिर रहे है
गिर रहे है
पत्ते।

न रुक रहे—
    न टिक रहे—
गिर रहे—
        उड़ रहे
पत्ते,
    हवा के हाँके—
        हड़काये।

बच्चे,
उमर के कच्चे
धुन के पक्के
जुम्मन,
    जोखू,
चक्खन, मक्खन,
नाटे
    ठिगने
दुबले-पतले
नकबहे
    नादान
मन के मौजी,
    मस्त,
नंग-धड़ंग
    देह उघारे
गमछा धारे

गदबद—
गदबद,
हंसते-हँसते
मूंड़-मुंड़ाये
झबरे झबरे बाल रखाये
काले,
गोरे,
सुघड़-साँवरे,
साथ-दौड़ते
लहरें लेते
धक्के देते
धक्के खाते
पकड़ रहे उड़ते पत्ते को,
भर भर मुट्ठी
अपने ऊपर
सब के ऊपर
फेंक रहे हैं
फेंक रहे है—पकड़े पत्ते;
खेल अनोखा
खेल रहे हैं
रीझ रहे हैं
सींझ रहे हैं
सुख के स्वेद
पसीज रहे हैं।

१२-१२-८२

हाँक के हाँके हम,
जमीन में जीते हैं हम
जीने का धोखा
आतंकित—
हाँपते-काँपते हम
संविधान की शरण में
धूल फाँकते हैं—
मौत की दूरी नापते हम।

२०-१२-८२

प्यार के पंख
अब
दूर की उड़ान नहीं भरते

देह में लगे
इंद्रियों की
हिफाजत करते हैं

निर्भय
और निःशंक रखते हैं,
प्राण की सेवा में
समर्पित रहते है।

७-६-८५

जी कहता है
  इस दुनिया को सत्य समझ कर
      जी भर इसे जियो,

इसके नखरे—
      इसकी रूठन—
इसकी तेजी—
   इसकी गर्मी—
      इसकी धधकन—
इसकी तड़पन—
      इसकी विमुखन—
असहनीय हों चाहे जितनी,
इसको परम उदार समझ कर
जी भर इसे जियो,
इससे कभी न मुँह मोड़ो;
जोड़ो तो, बस, गहरा नाता इससे जोड़ो;

छोड़ो

परम अलौकिक छोड़ो,
लेकिन इसको कभी न छोड़ो,
जी कहता है
इसे प्यार दो प्रिया समझ कर,
प्यार प्यार से इसे जियो,
जी भर इसे जियो।

१०-६-८५

न कुछ होकर भी आदमी
प्रभुत्व का
मुखौटा लगाये,
मान-सम्मान की
कुरसी हथियाये,
पद-भार से
भारती को
दर्प से दबाये,
सच को बौराये,
स्वामित्व की सुविधा को
वैधानिक बनाये
अस्तित्व का आश्वासन बाँटता,
मोमी मोतियों की
मालाएँ पोहता है,
सिद्धि और प्रसिद्धि के
स्वरारोह में
औपनिषदिक
प्रवचन सुनाता है;
'सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयः'

३-१०-८२

उड़ उड़ जाता
सुख का सुगना
नहीं पकड़ में आता,
चाहे जितना करो प्रयास—
चाहे जितनी भरो उसाँस,

हरे-हरे वृक्षों का नीड़-निवासी
गेही नहीं—
नही सन्यासी;
मुक्त गगन के
नील-श्याम का वेधी
सत्यान्वेषी
क्रूर काल-प्रतिषेधी,
चेतन—
भाता—
जगत-जाल में फँसने से बच जाता,

उड़ उड़ जाता
सुख का सुगना
नहीं पकड़ में आता।

१३-६-८५

दुख ने मुझको
जब-जब तोड़ा,
मैंने
अपने टूटेपन को
कविता की ममता से जोड़ा,

जहाँ गिरा मैं,
कविताओं ने मुझे उठाया,
हम दोनों ने
वहाँ प्रात का सूर्य उगाया।

१५-६-८५

उतरा जेठ,
चढ़ा आषाढ़,
न आया बादल एक,
वही वही है
दारुण दाही
आतप का अतिरेक ।

१८-६-८५

कविता

दूंगा

कभी

अभी—

आज नहीं

जब

पकड़ूंगा

तभी

अभी

आज नहीं ।

१८-६-८५

डॉ० अशोक त्रिपाठी के कविता माँगने पर

आया तो आषाढ़
—न आया जैसे आया—
आग बुझाने वाले अनुचर
मेघ, न लाया

दहन-दाह से
धधक रही है
व्याकुल काया

पीड़ित प्यासी
ढूंढ़ रही है तरु की छाया ।

१७-६-८५

पहुँच के पारंगत—
नाम के धनी—

कुछेक लोग
अर्थ की कामधेनु का
इच्छानुसार
भरपूर दोहन करते हैं,
उपासना से
उपास्य का वरदान पाने को,
विनम्र हुए, नत मुख,
श्रद्धालु नयनों से
निर्भ्रांत
वशीभूत करते हैं,
सुरानीक के मधुर संबंध-सूत्र से
हर हमेश सधे रहते हैं,
स्वार्थ की साधना में सिद्ध हुए
धन्य धन्य
अहोभाग्य
कहते हैं,
सर्वमान्य बने रहते हैं।

१२-६-८५

कोयल कुहुकी

फिर-फिर कुहुकी,

युग-युग भर फिर-फिर कुहुकेगी,

बिन कुहुके वह नहीं रहेगी,

चाहे जितना उत्तापित हो-

आतप से वह संतापित हो.

बीते युग में भी वह कुहुकी,

फिर-फिर कुहुकी,

कुहुक-कुहुक के उसके स्वर में

देश-काल भी फिर फिर कुहुके,

बिन कुहुके वह नहीं रहे,

चाहे जैसी प्रकृति रही हो,

चाहे जैसी सृष्टि रही हो.

क्या होता है सच जमीन का—
मुझसे पूछो,
आसमान उस चेतन सच को पा न सका है
अभी आज तक,
इसीलिए वह इस जमीन से
मिल कर उसको माँग रहा है
लेकिन उसको पा न सका है,
इसीलिए तो वह मनुष्य को
अपने घर में बुला रहा है
जो चेतन कर सके उसे भी
इस जमीन के चेतन सच से।

२०-६-८५

आँखें शाम उदास,
रात उतर आई भौंहों तक,
अब डूबी
तब डूबी शाम

द्रवित हुआ आकाश
झलके आँसू,
टिमके तारे,
रूठ गया विश्वास ।

२३-६-८५

यहाँ बैठे देखता हूँ
　　　　जहाँ तुम हो
　　और मैं हूँ

बिजलियों ने यह दिखाया
बादलों ने जो छिपाया ।

२३-६-८५

फूल जैसे कहे
खिल कर
महक देकर
बात जी की

कहो तुम भी
बात जी की
खिले—
महके—
जो, मुहब्बत—प्यार की हो ।

२३-६-८५

चारों आँखों में हम दोनों
झूल रहे हैं,
अपने जी का अपना झूला

इसके कारन
दुनिया का दुख
हम दोनों को भूला ।

२३-६-८५

वे गये
आये नये
बेतरह की चाल चल के,
दाम के दामाद बन के;
मोर धारे,
मोर के पखने पहन के

देश जलता,
वे न जलते,
तेज से दम दम दमकते,
जब जहां जैसा हुआ
वैसा बहकते

ठग नहीं,
पर ठगी करते,
हाय के मारे न मरते,
दीन का दुर्भाग्य बन कर वे
चहकते ।

२४-६-८५

चुप रहें,
सरकार सोते हैं अभी,
आँख में सपने भरे हैं—
जिंदगी से दूर हैं
बस इसी के, वास्ते मशहूर हैं

चुप रहें,
बेकार रोते हैं सभी।

२६-६-८५

न थोड़ा—
न बहुत—
जो हमने जोड़ा
विरासत में छोड़ा

वह हैं कविताएँ
शब्दों की मालाएं
जो न टूटती हैं—
न सूखती हैं,
गले में पड़ीं
जयमाल की तरह झूलती हैं।

२६-६-८५

हम रहे, जैसे
जिंदगी
जीते रहे वैसे—

जमीन-असमान को सहते ऐसे,
मरते-खपते जैसे-तैसे।

२६-६-८५

कील
    जो गड़ी
राह में पड़ी

छाँव में हमने
    पाँव से निकाला

और फिर चले
    आशीष में लिये
        सूर्य का उजाला।

२६-६-८५

न चारण हूं—न चाटुकार
न स्वार्थ-साधक साहित्यकार;
मैं हूँ एक
स्वाभिमानी कवि-वकील

बांदा का निवासी,
गाँव से आया गाँव के संस्कार लिये;
जातीय जन-जीवन की,
भाषा स्वीकार किये

नही जानते मुझे राजनीतिज्ञ,
मैं नही रहा
उनमें से किसी का तरफदार,

न वह रहे मेरे वफादार
न मैं रहा उनका व्फादार

हाँ, देश के दुख से दुखी रहता हूँ
उसी के प्रति
उसी को समर्पित रहता हूँ

काव्य में अभिव्यक्ति करता हूँ
देश के हित में जिसे
उपयुक्त समझता हूँ

देश में अच्छा होते देख कर प्रसन्न होता हूँ
बुरा होते देख कर अवसन्न होता हूँ

जहाँ कहीं दाँव-पेंच की वघार हुई
राजनीति की धार वेकार हुई
उसे निरर्थक समझ कर
उपेक्षित करता हूँ
सत्य को सदैव सम्प्रेषित करता हूँ

अतिरिक्त, और जो कुछ लिखता हूँ,
उसे भी सारवान सार्थक समझ कर
कलात्मक अभिरुचि से
लिखता हूँ

भाव भाषा और सिद्धान्त के प्रति
पूर्णतया कटिबद्ध दिखता हूँ।

१६-६-८५

कविताओं में जो मैंने लिखा
उसे मैंने
अपने में आप
और दूसरों के साथ जिया,
फिर उस जिये को
जीवंत शब्दों से
सम्प्रेषित किया

वह लिखा
मेरा है उतना
दूसरों का जितना
देश-काल से निकला
वह मेरी कविताओं में पिघला,
पेड़ हों या पौधे
पवन हो या पानी
जमीन हो या आसमान

आदमी हों
या उसकी गतिविधियाँ;
सब हैं इस लिखे में
सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्तियाँ;
प्राकृत सृष्टि के समक्ष
मानवीय चेतना की सृष्टियाँ।

१-७-८५

हम न बदले
वही बदले
और अब हो गये उथले—
बने छल की तरह
छिछले
पार उनको कर गये हम,
प्यार पाकर जिंदगी का
रोशनी से भर गये हम;

वही बदले
हम न बदले,
आदमी हो कर
नहीं वह आदमी के साथ हैं,
आदमी को साथ लेकर
हम चले

हम न बदले,
वही बदले।

६-७-८५